भारतीय दर्शनों में आत्म तत्त्व

—डा. एम. पी. पटैरिया

भारतीय दर्शन का चिन्तन-क्षितिज बहु आयामी है। 'जीव' और 'जगत्' के अस्तित्व की परिचर्चाओं के साथ-साथ उनका स्वरूप निर्धारण, दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। किन्तु, जगत् दावानल से विदग्ध जीवात्मा की दुःख-निवृत्ति कैसे हो ? इस दिशा में जब वह शोधलीन हुआ, तब उसे ऐसी अनुभूतियाँ हुईं कि जगत् के समस्त दुःखों से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय 'आत्म-साक्षात्कार' हो सकता है। इस अनुभूतिपरक प्रेरणा ने, दर्शन को आत्मान्वेषण की ओर प्रवृत्त किया। फलतः जिन-जिन महर्षियों/आचार्यों ने आत्म-साक्षात्कार में सफलता पाई, उन्होंने, अपनी अनुभूतियों को एक व्यवस्थित स्वरूप दे दिया। ताकि, उनके साधना-अनुभवों का लाभ उठाकर दूसरे लोग भी आत्म-साक्षात्कार कर सकें; जगत् के कष्टों से हमेशा-हमेशा के लिए छुटकारा पा सकें।

जो जन्मता है, वह मरता भी है। जन्म और मृत्यु के बीच उसे कई रूपों/स्थितियों/अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। मृत्यु के बाद भी, उसे फिर जन्म लेना/मरना पड़ता है। जन्म-मृत्यु का यह सिलसिला, जीव और जगत् को इस कदर साथ-साथ बांधे रखता है कि कोई भी जीवात्मा, अपनी संसारावस्था से उन्नत/शुद्ध स्थिति के बारे में सोच तक नहीं पाता। आत्म-साक्षात्कार करने वाले ऋषियों/आचार्यों ने, इन सारी स्थितियों की विवेचना भी अपनी अनुभूतियों में सिलसिलेवार की; और अन्तिम निष्कर्ष के रूप में, यह बात जोर देकर कही, कि दुनियाँ के जंजाल से छूटने का एकमात्र साधन 'आत्म-साक्षात्कार' ही है। इसी कारण, भारतीय दर्शनों का जो स्वर उभरा है, उसमें 'आत्म-तत्त्व' को मौलिक आधार मानने की गूँज, साफ-साफ सुनाई पड़ रही है।

अनेकों भारतीय ऋषियों/आचार्यों ने 'आत्म-साक्षात्कार' किया; किन्तु उनके ढंग और अनुभूतियाँ अपने-अपने तरह के थे। जिस ऋषि/आचार्य ने जिन-जिन तौर-तरीकों को अपनाकर 'आत्म-साक्षात्कार' करने में सफलता पाई, उन तरीकों/अनुभवों के अनुरूप उसने अपने शिष्यों/प्रशिष्यों को भी प्रशिक्षित किया। फलस्वरूप, कालान्तर में, आत्म-साक्षात्कार के तमाम तरह के तौर-तरीके और भिन्न-भिन्न तरह के अनुभव, जब आम आदमी के सामने आये, तो उसे लगा—'एक ही आत्मतत्त्व के बारे में, अलग-अलग तरह की मान्यताएँ क्यों/कैसे आ सकती हैं ?'

जैनाचार्यों की मान्यता है—प्रत्येक द्रव्य/तत्त्व, अनन्त धर्मों वाला है। जिन-जिन ऋषियों/आचार्यों ने आत्म-साक्षात्कार किया, यदि उनके अनुभवों/विश्लेषणों में कहीं कुछ भिन्नता है, तो यह नहीं मानना चाहिए कि उनके द्वारा किया गया आत्म-साक्षात्कार, और उसकी विवेचना गलत/असत्य/

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्या है। बल्कि, मानना यह चाहिए कि उन सबके अनुभवों/विश्लेषणों को मिलाकर, आत्म-तत्त्व का जो स्वरूप निखरता/स्पष्ट होता है; वही उसका समग्र स्वरूप होगा। क्योंकि, जिस ऋषि/आचार्य ने आत्मा के जिस स्वरूप का साक्षात्कार/विश्लेषण किया, सिर्फ वही स्वरूप आत्मा का नहीं है। बल्कि वे सारे स्वरूप, आत्म-तत्त्व के उन भिन्न-भिन्न पहलुओं से जुड़े हैं, जिन पहलुओं का साक्षात्कार, अलग-अलग ऋषियों/आचार्यों के द्वारा किया गया। यह एक अलग बात है कि चिन्तन/समीक्षण के प्रसंग में, इन भिन्न-भिन्न पहलुओं को, पृथक्-पृथक् इस आशय से विवेचित किया जाये कि उनके पारस्परिक साम्य/वैषम्य को स्पष्ट समझा जा सके। इसी भावना से, भारतीय दर्शनों में आत्म-तत्त्व का सैद्धान्तिक विश्लेषण और उसकी समीक्षा, यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

चार्वाक दर्शन में आत्म-चिन्तन

आत्म-तत्त्व का सबसे स्थूल स्वरूप, चार्वाक दर्शन में देखा जा सकता है। यद्यपि चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त/आचार का कोई व्यवस्थित/सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; तथापि, उसके नाम से, विभिन्न शास्त्रों/ग्रन्थों में जो उल्लेख आये हैं, उन्हीं को, उसकी परम्परा का मान लिया गया। एक विलक्षण तथ्य तो यह है, आत्मा के स्थूल/भौतिक स्वरूप के बहुत सारे वर्णन, उपनिषदों में भी पाये गये हैं। इन सबको मिलाकर, आत्मा की स्थूलता को प्रकट करने वाले, सारे सिद्धान्तों को, यहाँ एक क्रम से दिया जा रहा है।

भूतचैतन्यवाद— प्रत्येक प्राणी में, स्वतन्त्र बुद्धि/विवेक पाये जाते हैं। जैसे किसी को मिठाई खाने में आनन्द की अनुभूति होती है, तो कोई खट्टी चीजों में विशेष रस—आनन्द अनुभव करता है; और तीसरा, चटपटे/चरपरे स्वाद में आनन्दमग्न हो जाता है। इसी तरह, यह माना जा सकता है, कि जिसे, जिस वजह/तरह से दुःखों से छुटकारा मिल जाये, वही उसका आत्मा/आत्म-साक्षात्कार स्वीकार कर लिया जाये; यह मानना स्वाभाविक है। चार्वाकों की मान्यता है कि आत्मा एक है। वह स्वतन्त्र है, चैतन्ययुक्त है, और कर्मों का कर्ता है। चूँकि यह, भूत समुदाय के मिश्रण से उत्पन्न होता है इसलिए वह प्रत्यक्ष द्वारा जाना जा सकता है।

शरीर में जो चेतनता है, वह भूत/तत्त्व समुदाय के सम्मिलन से अपने आप पैदा हो जाती है; इसमें कोई महत्त्वपूर्ण कारण अपेक्षित नहीं होता है, जैसे, दो/चार पदार्थों को साथ-साथ मिला देने पर उनमें से मादकता पैदा होती है।

यहाँ, ध्यान देने की बात यह है कि जिन कुछ पदार्थों को साथ-साथ मिलाया जाता है, उनमें, कोई पदार्थ ऐसा नहीं होता, जो अपने में से मादकता उगा सके। किन्तु, परस्पर मेल के वाद, उनमें से मादकता अपने-आप पैदा हो जाती है। इसी तरह, पृथिवी-जल-तेज और वायु, इन चार भूतों/पदार्थों में से किसी भी एक में, चेतनता नहीं पायी जाती; किन्तु चारों का मिलाप/मिश्रण हो जाने पर, उनमें से चेतनता अपने आप उभर आती हैं। जैसे बरसात में मेंढक आदि तमाम कीड़े-मकोड़े, भूतों में से अपने आप पैदा हो जाते हैं। यही बात, मनुष्य आदि जीवों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

देहात्मवाद— लोक व्यवहार में, सहज ही हम देखते हैं कि घर में आग लग जाने पर, हर व्यक्ति, अपने आपको बचाकर भाग निकलता है; भले ही, उसके बच्चे, पत्नी आदि, जलते हुए घर में क्यों न रह जायें। इस मानसिकता से यह तथ्य स्पष्ट होता है, कि व्यक्ति को, पुत्र आदि की अपेक्षा अपना देह अधिक प्रिय होता है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' चूँकि सारी क्रियायें, देह में/देह के द्वारा ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पन्न होती हैं; यहाँ तक कि चेतनता भी देह में ही पायी जाती है। इसलिए, चार्वाकों का कहना है—'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'—यानी, चैतन्ययुक्त देह ही आत्मा है। इस सिद्धान्त के अनुसार, शरीर के मृत हो जाने पर, न तो चेतनता शेष बचती है, न ही देह-क्रियायें रह जाती हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में यही आशय, इन शब्दों में प्रकट किया गया है—'स वा एष अन्नरसमयः पुरुषः'[1]। 'मैं मोटा हूँ' 'मैं दुबला हूँ' 'मैं काला हूँ' इत्यादि अनुभवों से भी यह निश्चय होता है कि 'देह ही आत्मा है'। यही 'देहात्मवाद' है।

मन आत्मा है—कुछ चार्वाकाचार्य यह भी कहते हैं—शरीर की सभी कार्य प्रणाली 'मन' के अधीन होती है। मन, यदि व्यवस्थित/एकाग्र न हो, तो शरीर और उसके अङ्गोपाङ्ग ठीक से कार्य नहीं कर पाते। चूंकि मन स्वतंत्र है और ज्ञान भी कराता है। इसलिए 'मन' को ही 'आत्मा' स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी सिद्धान्त को 'आत्म-मनोवाद' कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् का भी कहना है—'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः[2]।

इन्द्रियात्मवाद—शरीर, इन्द्रियों के भी अधीन होता है। यानी, इन्द्रियां ही सारे के सारे कार्य करती हैं। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—'ते ह प्राणाः पितरं प्रेत्य ऊ चुः'[3]। 'मैं अन्धा हूँ' 'मैं बहरा हूँ' इत्यादि अनुभवों में, यह माना गया कि 'अहं' पद से 'आत्मा' का अर्थ प्रकट होता है। इस मान्यता के अनुसार चार्वाकों का एक वर्ग 'इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं', यह मानता है।

इस मान्यता के भी दो भेद हैं। एक समुदाय के अनुसार 'एक देह में, एक ही इन्द्रिय, आत्मा होती है' यह माना गया है। इसे 'एकेन्द्रियात्मवाद' कहा गया। दूसरे समुदाय के अनुसार 'इन्द्रियों के समूह' को आत्मा माना गया। इस मान्यता को 'मिलितेन्द्रियात्मवाद' कहा गया।

प्राणात्मवाद—इन्द्रियाँ, प्राणों के अधीन होती हैं। देह में प्राणों की प्रधानता होती है। प्राणवायु के निकल जाने पर, देह और इन्द्रियाँ भी मर जाती हैं। प्राणों के रहते हुए ही शरीर जिंदा रहता है और इन्द्रियाँ भी कार्य करती हैं। भूख/प्यास लगने पर 'बुभुक्षितोऽहं' 'पिपासितोऽहं' आदि अनुभव प्राणों का धर्म है। इसलिए, कुछ आचार्यों का कहना है—'प्राण एवात्मा'। तैत्तिरीयोपनिषद् ने भी प्राणात्मवाद का समर्थन करते हुए कहा है—'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'[4]।

पुत्र आत्मा है—बेटे को सुखी/दुःखी देखकर पिता सुख/दुःख का अनुभव करता है। संसार में कई बार, ऐसे दृश्य देखे गये हैं, कि बेटे के मर जाने पर, उसके विरह-दुःख से पिता भी मर गया। इस लोक-व्यवहार के आधार पर, कुछ चार्वाक आचार्यों का कहना है—'पुत्र ही आत्मा है।' इस मान्यता के समर्थन में कौषीतकी उपनिषद् का कहना है—'आत्मा वै जायते पुत्रः'[5]।

अर्थ/धन आत्मा है—धन, सबका परमप्रिय है। धन के बिना आदमी दुःखी रहता है। और कभी-कभी तो धन के अभाव में वह मर भी जाता है। धन होने पर सुखी होना, न होने पर दुःखी रहना, एक सामान्य लोक-व्यवहार है। जिसके पास धन है, वह स्वतंत्र है, सब कुछ करने में समर्थ है। इसलिए, धनी को 'महान्' और 'ज्ञानी' तक कहा जाता है। जो धनी है, धन का विनाश/क्षय हो जाने पर, वह अपने प्राण त्याग देता है, यह भी कई अवसरों पर देखा गया है। इस व्यवहार के आधार पर कुछ चार्वाक मानते हैं—'लौकिकोऽर्थ एवात्मा'। बृहदारण्यकोपनिषद् में इस मान्यता के समर्थन में कहा गया है—'अर्थ एवात्मा[6]'।

1. तैत्तिरीयोपषिषद्—2/1/1
2. तैत्तिरीयोपनिषद्—2/3/1
3. छान्दोग्योपनिषद्—5/1/7
4. तैत्तिरीयोपनिषद्—2/2/1
5. कौषीतकी उपनिषद्—1/2
6. बृहदारण्यकोपनिषद्—1/4/8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सिद्धान्तों को ध्यान से देखने पर, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकांश सिद्धान्त, लोक-व्यवहार पर आधारित हैं। शायद इसीलिए, इनके आचार्यों का 'लोकायत' नाम भी दे दिया गया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन सारे सिद्धान्तों में पदार्थों/भूतों की ही प्रधानता है। इसलिए, इन सिद्धान्तों को भूतवाद/भौतिकवाद जैसे नामों से भी व्यवहृत किया गया।

चार्वाक, चूंकि भूतों से हटकर अन्य कुछ भी विमर्श नहीं करते। इसलिए इन्होंने आकाश, प्राण और मन की भी, भौतिकता को ही स्वीकार किया है। छान्दोग्योपनिषद् ने 'मन' को 'अन्नमय' और प्राणों को जलीय पदार्थ माना है। और, दोनों की भौतिकता को स्पष्ट करते हुए कहा[7] है—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः॥ आपः पीतस्त्रेधा विधीयते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं, यो मध्यस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणाः'॥

बौद्धदर्शन में आत्म-विचारणा

तथागत बुद्ध को जब तत्त्वज्ञान हुआ था, तभी उन्हें आत्मसाक्षात्कार भी हुआ था। किन्तु, जीवन का परम लक्ष्य 'आत्म-साक्षात्कार' ही है, यह जानते हुए भी उन्होंने 'आत्मा' के सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा। उनकी धारणा थी—'कर्तव्यनिष्ठाओं की उपासना से, और तपस्या से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। इसी से, स्वतः ही आत्मज्ञान हो जायेगा'। इस कारण उन्होंने कर्म सम्बन्धी उपदेश को प्राथमिकता दी। आत्मा, शरीर से भिन्न है या अभिन्न? आत्मा, मूर्त है या अमूर्त?— मृत्यु के बाद भी उसका अस्तित्व रहता है या नहीं? इत्यादि आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देने के बजाय, उन्होंने मौन रहना ही श्रेष्ठ समझा। इसलिए, बौद्धदर्शन में आत्मविषयक चर्चाओं का प्रायः अभाव ही देखा/पाया जाता है।

वच्चगोत्तभिक्षु के उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में धारण किये गये मौन के विषय में, और उन प्रश्नों के उत्तर के विषय में भी, उनके प्रमुख शिष्य आनन्द ने, जब बुद्ध से प्रश्न किया तो उन्होंने कहा— 'आनन्द! 'आत्मा है', यदि मैं यह कहता हूँ, तो उन श्रमण-ब्राह्मणों का सिद्धान्त पुष्ट होता है, जो आत्मा की स्थिरता/नित्यता में विश्वास करते हैं। 'आत्मा नहीं है' यदि यह कहता हूँ, तो उन श्रमण-ब्राह्मणों के सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जो आत्मा के शून्यवाद में विश्वास रखते हैं।'

बुद्ध और आनन्द के इस संवाद पर, पाश्चात्य विद्वान् आल्डेनबर्ग का मानना है—'आत्मा के अस्तित्व और अभाव, दोनों से परे रहकर दिये गये उत्तर का यही आशय लिया जायेगा कि 'आत्मा नहीं है'[8]।

बावजूद उक्त स्थिति के, बौद्धदर्शन में रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार और विज्ञान नाम के पाँच स्कंधों के संघात/संयोग/मेल रूप में आत्मा की स्वीकृति पायी जाती है। इस स्वीकृति पर अपनी टिप्पणी करते हुए रोज डेविड्स ने लिखा है—'रूप-वेदना आदि पाँचों स्कंधों के संयोग के विना, जीवात्मा ठहर नहीं पाता और इनका संयोग, क्रियमाण के अभाव में असम्भव हो जाता है। क्रियमाण भी एक और दूसरे क्रियमाण के बिना सम्भव नहीं होता। और, 'विभाग' स्वीकार किये बिना, यह दूसरा क्रियमाण भी स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं है। यह एक ऐसा तिरोभाव है, जो पहिले/बाद के समय में, कभी भी पूरा

7. छान्दोग्योपनिषद्—6/5/1

8. BUDDHA—p. 273

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हो पायेगा। इस तरह, यह एक ऐसी शाश्वत/अविच्छिन्न प्रक्रिया है, जिसमें नाम, रूप आदि कुछ भी तो स्थायी नहीं है'[9]।

विद्वानों की इसी तरह की टीका/टिप्पणियों के परिप्रेक्ष्य में, बौद्धों का आत्मा-विषयक अभिप्राय यह स्पष्ट होता है—'आत्मा, न तो वह है, जो पञ्चस्कन्ध का स्वरूप है; न ही उस स्कन्ध रूप से सर्वथा भिन्न है। यह आत्मा, न तो केवल शरीर-मन का सम्मिश्रण मात्र है, न ही कोई इस तरह का नित्य पदार्थ है, जो कि परिवर्तनों के विप्लव से सर्वथा मुक्त रह सके'[10]।

वैदिक वाङ्मय में आत्म-चर्चा

दुःख-निवृत्ति का प्रमुख कारण आत्म-साक्षात्कार है, यह मानकर, वैदिककालीन जीवात्मा, जब आत्मान्वेषण में प्रवृत्त हुआ, तो उसने देखा कि देवोपासना/स्तुति आदि से भी दुःख-निवृत्ति हो जाती है। इसलिए वह इन्द्र, वरुण, आदि देवों को ही 'आत्मा' के रूप में मान बैठा। यह तथ्य, वेद संहिताओं के अवलोकन से स्पष्ट होता है। किन्तु जिसने, जब-जब भी जिस किसी देवता की स्तुति की, तब-तब उपास्य/स्तुत्य देव को ही उसने 'महानतम' माना। पर, सभी देव तो 'महानतम' हो नहीं सकते—यह विवेक जागृत होने पर, उनके मनों में एक जिज्ञासा जागी—'सबसे महान् कौन है ?' इस के समाधान में यह माना गया कि जो देव, सबसे महान् हो, वस्तुतः वही आत्मा है। इसी तरह की भावनाओं के रूप में, आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा की क्रमिक प्रगति वेदों में देखी जा सकती है।

यह बात अलग है कि उपनिषदों में, आत्मा को देवताओं से पृथक् रूप में स्वीकार कर लिया गया। केनोपनिषद् कहती है[11]—'जिस आत्मा के अन्वेषण में लोग लगे हुए हैं, वह देवताओं से भिन्न है। क्योंकि, देवताओं में जो देवत्व शक्ति है, वह ब्रह्मप्रदत्त है। इसलिए, आत्मा, देवताओं से भिन्न है—यह तथ्य यक्ष-देव सम्वाद में स्पष्ट हुआ है।'

ब्राह्मणों/आरण्यकों में आत्मा— ब्राह्मण ग्रन्थों में पहले तो मित्र, बृहस्पति, वायु, यज्ञ आदि को 'ब्रह्म' रूप में माना गया[12]। बाद में, इन सब देवताओं की उत्पत्ति ब्रह्म से बतलाकर, ब्रह्म तत्त्व का व्यापक रूप प्रदर्शित किया गया। यहाँ 'आत्मा' और 'ब्रह्म' दोनों को ही अलग-अलग कहा गया है। ब्रह्म, देवताओं का उत्पादक होने पर भी उनसे अभिन्न माना गया। और, आत्मा को देवताओं से भिन्न स्वीकार किया गया। यानी, ब्राह्मणों/आरण्यकों में, देवताओं की उत्पत्ति के कारणस्वरूप ब्रह्म से 'आत्मा' का स्वरूप पृथक् स्वीकार किया गया।

शतपथ ब्राह्मण में 'शरीर का मध्यम भाग आत्मा है'[13] कहने के साथ-साथ त्वचा, शोणित, मांस और अस्थियों के लिए, फिर बाद में मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया। यहीं पर, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय अवस्थाओं के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग है[14]। जबकि जैमिनीय ब्राह्मण में आकाश से अभिन्न मानकर आत्मा की पृथक् सत्ता दिखलाई गई है[15]।

9. महावग्ग—1/6/38
10. पुग्गलपञ्ञत्ति
11. केनोपनिषद्—1/5/9
12. शतपथ ब्राह्मण—9/3/2/4
13. वही—9/3/2/4
14. शतपथ ब्राह्मण—7/1/1/18
15. जैमिनीय ब्राह्मण—2/54

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्तिरीय आरण्यक में आत्मा को प्राणों से अभिन्न मानते हुए उसे 'विज्ञानमय' 'आनन्दमय' स्वीकार किया गया है[16]। और अन्त में उसका स्वरूप-परिचय दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में द्यौ और पृथिवी के मध्यवर्ती आकाश से अभिन्न 'आत्मा' कहा गया है[17]। जब कि ऐतरेय आरण्यक में 'आत्मा' से ही लोक की सृष्टि कही गई है, और उसके सोपाधि-निरुपाधि स्वरूपों का वर्णन करके, चित्पुरुष ब्रह्म से उसकी एकता स्वीकार की गई है[18]। दूसरे स्थल पर, स्पष्ट कहा गया है—शुद्ध चैतन्य से भिन्न, अन्य कोई पदार्थ, संसार में नहीं है। देवता, जंगम और स्थावर जीव, जो कुछ भी इस संसार में विद्यमान हैं, वह सब आत्मा ही है। इसी से सबकी सृष्टि होती है, और सबका लय भी इसी में होता है[19]।

इस तरह, आत्मा के स्थूलतम, परिच्छिन्न स्वरूप से लेकर सूक्ष्मतम, सर्वव्यापक स्वरूप तक का वर्णन आरण्यकों में पाया जाता है।

उपनिषत्साहित्य में आत्म-विचारणा

उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' है। वेद-संहिताओं से लेकर आरण्यकों तक जिस 'ब्रह्म' को आत्मा से भिन्न प्रतिपादित किया गया था, वही ब्रह्म, उपनिषत्साहित्य में आत्मा से अभिन्न मान लिया गया[20]। इसके साथ-साथ, यह भी स्वीकार किया गया कि 'आत्मा' के अलावा, अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ, संसार में 'सत्' नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् का, आत्मा के सम्बन्ध में यह कथन द्रष्टव्य है—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमयः आपोमयः ………………धर्ममयो अधर्ममयः सर्वमयः'' इत्यादि[21]।

यही आत्मा/ब्रह्म, प्राण-अपान-व्यान-उदान वायु के रूप में, हमारे शरीर की रक्षा करता है; यही आत्मा, भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा, मृत्यु आदि से हम सबका उद्धार करता है। इसी के ज्ञान/साक्षात्कार से, पुत्र, धन, स्वर्ग आदि की अभिलाषा से मुक्त हुआ जीव संन्यस्त हो जाता है।[22] चूंकि, यह आत्मा अखण्ड है, पूर्ण है; इसलिए, सत्-असत्, दीर्घ-लघु, दूर-समीप, आदि परस्पर विरोधी धर्मों का वह आधार होता है। इसी वजह से, अलग-अलग दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से, उसका वर्णन अनेक तरह से किया है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है, कि 'ब्रह्म' सम्बन्धी ज्ञान, पहले-पहल, क्षत्रियों में ही था। उन्हीं से ब्राह्मणों ने इस विद्या को प्राप्त किया। इसमें, यह भी स्पष्ट कहा गया है कि अपनी तपस्या के बल पर, कोई भी ब्रह्म को जान/प्राप्त कर सकता है। क्योंकि, यह आत्मा न तो वेदों के अध्ययन से जाना/पाया जा सकता है, न ही बुद्धि/शास्त्रों से उसे प्राप्त किया जा सकता है। बल्कि, जो जीवात्मा, अपने आत्मा का वरण करता है, वही जीवात्मा, अपने आत्मा को प्राप्त करता है।[23] यही बात कठोपनिषद् में भी यों कही गई है :[24]—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्येष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

16. तैत्तिरीयारण्यक—9/1
17. ऐतरेयब्राह्मण—1/3/3
18. ऐतरेय आरण्यक—2/4/1/3
19. वही—2/6/1
20. बृहदारण्यकोपनिषद्—2/5/19
21. वही—4/4/5
22. वही—4/5/6
23. वही—4/4/19
24. कठोपनिषद्—1/2/23

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवात्मा का स्वरूप— मर्त्य-अमर्त्य, स्थिर-अस्थिर स्वरूप वाला ब्रह्म/परमात्मा, अविद्या से संश्लिष्ट होने पर 'जीवात्मा' कहलाता है[25]। पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार, वह सुख/दुःख का उपभोग करता है, और जन्म/मरण को प्राप्त करता है; बल्कि, जन्म लेने से पूर्व ही अपने स्थूल, सर्वांगपूर्ण शरीर को ग्रहण कर लेता है। पश्चात् इह/परलोक का भ्रमण करता हुआ, स्वप्न तक में दोनों लोकों का ज्ञान/अनुभव, एक ही समय में प्राप्त करता है। इसी से वह सुख/दुःख का अनुभव करता है।

जन्मान्तर व्यवस्था— स्थूल शरीर की शक्ति कम हो जाने पर, वह जाग्रत अवस्था से स्वप्न अवस्था में प्रवेश करता है; फिर, जर्जरित, स्थूल शरीर को छोड़कर, अविद्या के प्रभाव से, दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है। इस 'शरीर-परित्याग' को 'मरण' कहा जाता है। मरण की अवस्था में जीवात्मा, दुर्बल और संज्ञाहीन होकर, हृदय में स्थित हो जाता है। मरण के समय, सबसे पहले उसके रूप/ज्ञान नष्ट होते हैं, फिर अन्य इन्द्रियों के साथ-साथ, उसका अन्तःकरण भी शिथिल हो जाता है। इस समय हृदय के ऊर्ध्वभाग में एक 'प्रकाश' उदित होता है; जोकि शरीर के छिद्रों में से होकर, शरीर से बाहर निकल आता है। इस प्रकाश के साथ-साथ, उसकी जीवन-शक्ति भी बाहर निकल जाती है। इस स्थिति में भी, उसमें 'वासना' स्पष्ट दिखाई देती है। इस वासना के ही प्रभाव से, जीव के जन्मान्तर का स्वरूप निश्चित होता है[26]।

परमपद प्राप्ति— जीवात्मा, अपने वर्तमान जन्म में, जो/जैसा करता है, उसी के अनुसार उसे अगला जन्म प्राप्त होता है। इसलिए, हर जीवात्मा को, अपना अगला जन्म सम्यक् बनाने के लिए शुभ कर्म करने चाहिए; ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग का अभ्यास और सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। शुभ कर्मों के करने से शुभ देह-स्वरूप और स्थान प्राप्त होता है[27]। यदि कोई जीवात्मा, अपने जीवन काल में तपस्या/पुण्योदय के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है, तो, इससे उसकी वासना का और किये हुए कर्मों का विनाश हो जाता है। सञ्चित कर्मशक्ति का ह्रास हो जाना ही 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है। जीवन्मुक्त अवस्था में, प्रारब्ध के योग से प्राप्त स्थूल शरीर ही रह जाता है। बाद में, प्रारब्ध के नष्ट हो जाने पर, उसका शरीर भी छूट जाता है। और, जीवात्मा 'आत्म-साक्षात्कार' का अनुभव करने लगता है। यानी, 'परमपद' को प्राप्त कर लेता है।

न्यायदर्शन में आत्म-विवेचना

ज्ञान का जो अधिकरण होता है, वही 'आत्मा' है। आत्मा द्रष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य और व्यापक है[28]। नैयायिकों की मान्यता है—बाह्य इन्द्रियों से और मन से, आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान रूप लिंगों के द्वारा, आत्मा के पृथक् अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इस प्रसंग में 'आत्मा' का आशय 'जीवात्मा' है। इसी को 'बद्ध आत्मा' कहा जाता है।

सुख/दुःख की विचित्रता से यह सिद्ध होता है कि हर शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्मा है। वही उस शरीर का, और उसके सुखों/दुःखों का भोक्ता होता है। मुक्त अवस्था में भी हर जीवात्मा स्वतन्त्र और एक-दूसरे से अलग रहता है। इसी आधार पर नैयायिकों ने मुक्त आत्माओं का अनेकत्व माना है।[29]

25. बृहदारण्यकोपनिषद्—2/3/1
26. वही—4/4/2
27. वही—शांकर भाष्य—4/4/2
28. न्याय भाष्य—1/1/9
29. Conception of Matter—Dr. Umesh Chandra, Chap. 11, p. 372-76.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यायदर्शन के अनुसार जीवात्मा ज्ञान का अधिकरण है। फिर भी वह स्वभाव से ज्ञानशून्य है। अतएव जड़ है। आत्मा में स्वभावतः चैतन्य का अभाव है। मन के संयोग से उसमें ज्ञान उत्पन्न होता ह। अर्थात्, 'ज्ञान' आत्मा का 'स्वाभाविक' धर्म न होकर 'आगन्तुक' धर्म ठहरता है। इसी बात को ध्यान में रखकर महाकवि श्रीहर्ष ने नैयायिकों का परिहास करते हुए कहा[30]—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।

आत्मा के गुण—न्यायदशन के अनुसार ज्ञान, सुख, दुःख आदि आत्मा के गुण हैं[31]। उसके मन, वाणी और शरीर के शुभ-अशुभ परिणामों से उत्पन्न होने वाले शुभ-अशुभ संस्कार आत्मा में अधिष्ठित रहते हैं। ये संस्कार, मृत्यु के बाद भी, जीवात्मा के साथ, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करते हैं। इन्हीं के प्रभाव से आत्मा भोगशील होता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि, चूंकि आत्मा विभु/सर्वव्यापी है। फिर, वह जहाँ कहीं भी कैसे आ/जा सकता है? वह, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कैसे कर सकता है?····नैयायिक कहते हैं, इस तरह की शङ्का उचित नहीं है। क्योंकि आत्मा, विभु/व्यापक है। इससे उसके सभी संस्कार, सब जगह, हमेशा मौजूद रहते हैं। हालांकि नैयायिक, संस्कारों को 'मन' में नहीं मानते हैं, किन्तु, स्थूल शरीर में मन का संयोग होने पर, उसमें जीवात्मा के संस्कार जब उद्बुद्ध होते हैं, तभी वह भोगशील बन पाता है। यद्यपि, एक शरीर को छोड़कर, दूसरे शरीर में मन ही प्रवेश करता है, तथापि मोटी बुद्धि से, कहा यही जाता है—'जीवात्मा के साथ उसके संस्कार भी जाते हैं।' यह कथन, जीवात्मा का मन से सम्बन्ध होने के कारण, किया जाता है।

मोक्ष—इक्कीस प्रकार के दुःखों और उनके कारण का विनाश हो जाने पर आत्मा मुक्त होता है। यानी, इक्कीस प्रकार के दुःखों से हमेशा-हमेशा के लिये छूट जाना 'मुक्ति' है। इसका दूसरा नाम 'अपवर्ग' भी है। इक्कीस प्रकार के दुःख ये हैं—'मन के साथ छः इन्द्रियाँ, उनके रूप-रस आदि छः विषय, इन छः ही प्रकार के इन्द्रिय-विषयों के छः प्रकार के ज्ञान, सुख और दुःख। इन्हीं से दुःख उत्पन्न होता है। अतः इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति को नैयायिक 'मोक्ष' कहते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया—शास्त्रों के समालोचनजन्य ज्ञान से पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उससे, पदार्थों में तमाम दोष दिखलाई देने लगते हैं। इसी से, जीवात्मा को संसार के प्रति विरक्ति हो जाती है। वह मोक्ष की कामना करने लगता है। अब, वह गुरु के उपदेश से अष्टांग योग का अभ्यास करता है, तथा ध्यान और समाधि में पूर्ण परिपक्वता पा लेने पर 'आत्म-साक्षात्कार' कर लेता है। आत्म-साक्षात्कार हो जाने से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पाँच क्लेशों का विनाश हो जाता है[32]। और वह निष्कर्म हो जाता है। उसके कर्मजन्य संस्कारों की उत्पत्ति नहीं हो पाती। अतः उसमें कर्म-संचय क्रिया का अभाव हो जाता है।

जीवात्मा में जो पूर्वजन्मोपार्जित संस्कारों और कर्मों का संचय रहा होता है, वह योगाभ्यास से सम्यग्ज्ञान हो जाने पर, उन-उन कर्मों के भोगयोग्य भिन्न-भिन्न शरीरों को काय-व्यूह से उत्पन्न करता है, तथा इन शरीरों की तीव्र कर्मभोग्य सामर्थ्य से, समस्त भोगों का उपभोग करके पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों

---

30. नैषधीयचरितम् - 17/75
31. न्यायसूत्र —प्रशस्त पादभाष्य—पृ० 70
32. पातञ्जल योगदर्शनम्—2/3/9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विनाश कर देता है। जिससे उसके भावी शरीरों का विनाश हो जाता है। अब, उसका जो मौजूदा शरीर बचा रह जाता है, उसके मर जाने पर, इक्कीसों प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इसी स्थिति में मोक्ष को प्राप्त हुआ जीवात्मा 'मुक्त' कहलाता है[33]। यही अभिप्राय आचार्य गौतम ने इस तरह से व्यक्त किया है[34]—'मिथ्याज्ञानस्य विनष्टे सति रागद्वेषादीनामपि नाशस्ततश्च प्रवृत्तेरभावस्तदनन्तरञ्च पुनर्जन्माभावोऽन्ते च दुःखानामभावात् 'मुक्तिः' भवतीति'।

मीमांसा दर्शन में आत्मविचार

नैयायिकों की तरह मीमांसा दर्शन में भी शरीर-इन्द्रिय आदि से भिन्न 'आत्मा' की सत्ता मानी गई है। किन्तु, इस दर्शन में, 'आत्मा' को भी एक 'द्रव्य' माना गया हैं। वेदों में कहा गया है—'यज्ञ के बाद यजमान स्वर्गलोक जाता है। मर जाने पर, यजमान का शरीर तो यहीं जला दिया जाता है। इसलिए, शरीर स्वर्ग नहीं जाता। जो जाता हैं, वही 'आत्मा' है। इसी तरह 'सोऽयं जीवन मरणयोर्बन्धनान्मुच्यते' इस कथन से भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुक्त होने वाला शरीर-इन्द्रिय से भिन्न, अविनाशी, एक लोक से दूसरे लोक में जाने वाला 'जीवात्मा' ही है[35]। यद्यपि आत्मा में ज्ञान का उदय है, पर, स्वप्न अवस्था में ज्ञान का विषय उपस्थित न रहने से ज्ञान का भी अभाव रहता है। इस मान्यता के अनुसार मीमांसक का आत्मा जड़ रूप भी है, और बोधरूप भी है।

वास्तव में तो आत्मा नित्य होने के कारण कभी नष्ट नहीं होता। यही कर्ता-भोक्ता होता है। और, 'अहं' इस अनुभूति के द्वारा जाना जाता है। विभु होने के कारण सब जगह मौजूद रहता है। इसलिए देश-काल से परिच्छिन्न, यह शुद्ध ज्ञान स्वरूप[36], समस्त पदार्थों का ज्ञाता[37] है। एक शरीर में मौजूद आत्मा दूसरे शरीरों में मौजूद आत्माओं से भिन्न है। अतः आत्माएँ अनेक हैं। मीमांसकों की यह स्पष्ट मान्यता है। जीवात्माओं की अनेकता/भिन्नता स्वीकार करने पर ही 'बद्ध'/'मुक्त' आत्माओं की व्यवस्था बन पाती है। अन्यथा, एक जीवात्मा के 'मुक्त' हो जाने पर सभी जीवात्माओं को मुक्त हो जाना चाहिए[38]। यह जीवात्मा स्वानुभव से जाना जाता है। इसलिए इसका मानस प्रत्यक्ष भी यहाँ स्वीकार किया गया है[39]।

मुक्ति का स्वरूप—यह शरीर भोगों का आयतन/घर/केन्द्र है। इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं। शब्द, स्पर्श, रूप आदि इन्द्रियों के विषय भोग्य हैं। 'प्रपञ्च' पद/शब्द इन्हीं के लिये प्रयोग किया जाता है। इन्हीं सबसे जीवात्मा सुख/दुःख का साक्षात् अनुभव करता है, और अनादिकाल से 'बद्ध' बना पड़ा है। इसलिए, इन तीनों का आत्यन्तिक विनाश 'मोक्ष' है। यह, भट्टमत में स्वीकार किया गया है।

पहले से उत्पन्न शरीर, इन्द्रियाँ और इन्द्रिय विषयों का विनाश, भावी शरीर, इन्द्रियाँ और इन्द्रिय विषयों का उत्पन्न न होना 'आत्यन्तिक—विनाश' कहा जाता है। इसके पश्चात् सुख-दुःख रहित मुक्त जीव 'स्वस्थ' हो जाता है। अर्थात्, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि से रहित अपने स्वरूप में स्थित जीव, ज्ञानशक्ति, सत्ता और द्रव्यत्व से सम्पन्न हो जाता है।

मुक्ति प्रक्रिया—पूर्वजन्म में कमाये गये धर्म-अधर्म/पुण्य-पाप आदि का, उनके फल का उपभोग

---

33. (क) न्यायसूत्र— 4/2/38— 46 (ख) तर्कपादभाष्य—पृ०—91-92
34. न्यायसूत्र—1/1/2
35. (क) श्लोकवार्तिक—1/5, (ख) शास्त्रदीपिका—1/1/5
36. शास्त्रदीपिका—पृ० 123
37. वही—पृ 123
38. वही—पृ० 123—24
39. श्लोकवार्तिक—1/5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने से विनाश हो जाता है।[40] इनका नाश हो जाने पर सुख-दुःख का भी नाश हो जाता है जिससे पूर्व जन्म के बन्धनों से जीव मुक्त हो जाता है। काम्य कर्मों का परित्याग कर देने से, भावी धर्म-अधर्म आदि की, और उनके फलों की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए उनका भी अभाव हो जाता है। वेदविहित कर्मों को करते हुए भी निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देने से, नये शरीर आदि की उत्पत्ति नहीं होती। अतः पूर्वशरीर का विनाश हो जाने के बाद, जीव मुक्त होकर स्व-रूप में स्थित हो जाता है। मोक्ष अवस्था में जीव में सुख, आनन्द और ज्ञान रहते हैं। इस तरह, भट्ट मीमांसक के मतानुसार 'प्रपञ्च सम्बन्ध का विलय' ही मोक्ष है।

मुक्त जीव का स्वरूप — मुक्त अवस्था में शरीर का, और मन के सम्बन्ध का भी अभाव हो जाता है। फिर वहाँ मुक्त जीव को 'स्व-ज्ञान' कैसे होता है? चूंकि, मनः-शरीर आदि के साधनों के अभाव में आत्मा भी अपने आपको जानने में समर्थ नहीं रहता, इसलिये, मोक्ष हो जाने पर, जीवात्मा को अपना ज्ञान नहीं होता; किन्तु, उसमें ज्ञानशक्ति का लोप कभी भी नहीं होता; वह तो उसमें रहती ही है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप यही है। इसी स्वरूप में, वह मोक्ष में रहता है[41]।

प्रभाकर के मत में, धर्म/अधर्म का निरवशेष विनाश हो जाने पर, देह का आत्यन्तिक विनाश ही 'मोक्ष' है। वस्तुतः तो धर्म-अधर्म के वशीभूत हुआ जीवात्मा नाना-योनियों में परिभ्रमण करता है। इसलिए, धर्म-अधर्म का विनाश हो जाने पर, इसी के कारण उत्पन्न देह-इन्द्रियों आदि के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर दुःखों से और बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।

मुक्ति पाने की इच्छा रखने वाला जीव, सांसारिक दुःखों से उद्विग्न हो जाता है। संसार में विशुद्ध सुख का अभाव है। इसलिए, सांसारिक दुःखों से मुक्त हुआ जीवात्मा, सांसारिक सुखों से भी पराङ्मुख हो जाता है फिर वह मोक्ष के लिये प्रयत्नशील बनता है। बन्ध के कारणों का, पाप के हेतुभूत निषिद्ध कर्मों का वह परित्याग करता है, पूर्वजन्म में अर्जित कर्मफलों का उपभोग करके उनका विनाश करता है। और, योगशास्त्रों में बतलाये गये शम-दम-ब्रह्मचर्य आदि योग के अंगों का पालन करके आत्मज्ञान प्राप्त करता है और, धर्म-अधर्म आदि संस्कारों का विनाश करता है; तब कहीं वह इस संसार से मुक्त होता है। फिर इस संसार में नहीं आता[42]। मुक्त अवस्था में, जीव की सत्ता मात्र रहती है। आत्मा, चूंकि सत्त्वयुक्त होता है, और अकारण रूप होता है; इसलिए वह 'अविनाशी' बन जाता है; और, सब जगह रहने के कारण 'विभु' भी होता है[43]।

इस विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भट्ट और प्रभाकर के मत में फर्क यह है कि भट्ट ने सिर्फ कर्मफलों का उपभोग कर लेने से ही धर्म/अधर्म का विनाश मान लिया है; जबकि प्रभाकर ने उक्त उपभोग के साथ-साथ शम-दम आदि योगाङ्गों के परिपालन से प्राप्त आत्मज्ञान को भी धर्म-अधर्म के विनाश में आवश्यक माना है[44]। भट्टमत में प्रपञ्च सम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है; जबकि प्रभाकर मत में धर्म-अधर्म का निरवशेष विनाश, तथा प्राप्त देह का आत्यन्तिक विनाश 'मोक्ष' माना है।

उक्त दोनों सिद्धान्तों में जो पारस्परिक भिन्नता परिलक्षित होती है, वह वास्तविक नहीं है। क्योंकि भट्टमत में 'तीनों प्रकार के बन्धों का आत्यन्तिक विलय' मोक्ष माना गया है[45]। तो प्रभाकर मत

40. शास्त्रदीपिका—पृ० 130
41. वही—पृ० 130
42. प्रकरण पञ्चिका—पृ० 154-157
43 वही—पृ० 157
44. वही—(काशी संस्करण) पृ० 156
45. शास्त्रदीपिका—पृ० 125

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में 'देह का आत्यन्तिक उच्छेद' मोक्ष माना गया है[46]। एक मत में शरीर सम्बन्ध के विलय को और दूसरे मत में शरीर के ही उच्छेद को, मोक्ष का कारण माना गया है। शरीर का उच्छेद हो जाने पर, शरीर सम्बन्धों का उच्छेद हो जाना स्वाभाविक है। अतः दोनों मतों में कोई विशेष फर्क नहीं है।

सांख्यदर्शन में आत्म-चिन्तन

सांख्यदर्शन में मूलतत्त्व तीन हैं—व्यक्त, अव्यक्त, और ज्ञ। इनमें से 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' जड़ हैं। केवल 'ज्ञ' ही चेतन है। 'ज्ञ' को 'पुरुष' भी कहा गया है। परोक्ष होने के कारण 'पुरुष' को न तो बुद्धि से जाना जाता है, न ही उसका प्रत्यक्ष होता है। यह त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। अतः इसकी सत्ता/अस्तित्व की सिद्धि करने के लिये किसी सहयोगी 'लिंग' के न होने से, अनुमान द्वारा भी इसका ज्ञान नहीं किया जा सकता। सांख्यों की मान्यता है कि मात्र 'शब्द'/'आगम' ही इसके अस्तित्व की सिद्धि में सहयोगी है। सांख्य शास्त्रों में 'ज्ञ' के अस्तित्व सम्बन्धी अनेकों प्रमाण मिलते हैं। जिन्हें देखते हुए यह कहा जा सकता है कि 'ज्ञ' की सिद्धि आगम/आप्तवचन से हो जाती है। सांख्यों का यह पुरुष अहेतुमान्, नित्य, सर्वव्यापी, त्रिगुणातीत और निष्क्रिय है।

पुरुष की अनेकता/बहुत्व के विषय में, विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। ईश्वरकृष्ण 'तथा च पुमान्[47], पद के द्वारा इसके 'एकत्व' और 'प्रकृति के साथ सादृश्य' प्रकट करते हैं। इस पद के भाष्य में गौड़पादाचार्य ने भी 'पुमानप्येकः' पद के द्वारा ज्ञ/पुरुष का एकत्व सिद्ध किया है। जबकि अन्य टीकाकारों ने पुरुष का 'बहुत्व' सिद्ध किया है। इसका मुख्य आधार 'पुरुषबहुत्वं सिद्धं[48]' पद जान पड़ता है। किन्तु, इस सन्दर्भ में जो विशेषण-शब्द जनन-मरण-करण आदि प्रयोग किये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पुरुष के बहुत्व का यह वर्णन, उसके शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से नहीं किया गया है। बल्कि, सांसारिक/बद्ध पुरुष की वहाँ पर अपेक्षा जान पड़ती है।

बद्ध पुरुष की अनेकता—सांख्यदर्शन में शुद्ध स्वरूप वाला पुरुष/ज्ञ एक ही है। किन्तु, बद्ध/सांसारिक पुरुष बहुत हैं। इन सांसारिक पुरुषों के जन्म-मृत्यु, और इन्द्रिय-समूह के सत्ता/स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपों में नियत पाये जाते हैं। इन सब की अलग-अलग ढंग की प्रवृत्ति, और सत्त्व-रज-तम रूप त्रैगुण्य की विषमता, यह सिद्ध करते हैं कि बद्ध/सांसारिक पुरुषों की विविधता/बहुत्व है[49]। यदि बद्ध पुरुषों में भी एकत्व मान लिया जाता है, तो किसी एक पुरुष के जन्म लेने पर, सबको जन्म ले लेना चाहिए; एक के मर जाने पर सबको मर जाना चाहिए। किसी एक के अन्धा/बहिरा हो जाने पर, सबको अंधा/बहिरा हो जाना चाहिए। लोक व्यवहार में ऐसा दृश्य दिखाई नहीं देता; जिससे, यही सिद्ध होता है कि पुरुष-बहुत्व का विश्लेषण, उसकी संसारावस्था को लक्ष्य करके ही सांख्यदर्शन में किया गया है।

'ज्ञ' के बहुत्व में आपत्तियाँ—कुछ विद्वान्, हठपूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि सांख्यदर्शन में 'ज्ञ'/'शुद्धात्मा' का ही बहुत्व स्वीकार किया गया है। इन्हें विचार करना चाहिए कि शुद्ध स्वरूप 'ज्ञ' मुक्त अवस्था वाला होता है। वह, न तो कभी जन्म लेता है, न ही मरता है। इसलिए, उसको अंधा/बहिरा होने, या किसी कार्य में संलग्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। न ही उसमें सत्त्व-रज-तम आदि गुणों की

46. प्रकरणपञ्चिका—पृ० 156
47. सांख्यकारिका—11
48. सांख्यकारिका—18
49. वही—18

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपस्थिति रहती है। इन तमाम गुणों का शुद्ध स्वरूप में अभाव होने पर भी, उसमें सिर्फ 'बहुत्व' कैसे घटित हो सकता है? अतः 'पुरुषबहुत्वं सिद्धं' का अर्थ/आशय, यही लिया जाना चाहिए कि जन्म-मरण आदि की अपेक्षा से, त्रैगुण्य विपर्यय की अपेक्षा से बद्ध/सांसारिक पुरुष ही बहुत्व को प्राप्त होता है।

सांख्यदर्शन में पुरुष को अनादि अविद्या के संसर्ग से, अनादिकाल से बद्ध माना गया है। इसीलिए वह शरीरी होता है। इसी की संज्ञा 'पुरुष' है। इसी के लिये 'बहुत्व' विशेषण प्रयोग किया जाता है। इसी का प्रत्यक्ष होता है; और अनुमान द्वारा ग्रहण करने के लिये 'संघात परार्थत्वात्' आदि पाँच हेतु बतलाये गये हैं। न कि प्रत्यक्ष से अगम्य, शुद्ध स्वरूप के ग्रहण के लिये। अतः 'पुरुषबहुत्वं सिद्धं' पद से ईश्वरकृष्ण का अभिप्राय बद्ध पुरुष के बहुत्व से है, यही मानना चाहिए।

'ज्ञ' की त्रिविधता—श्रीमद्भगवद्गीता की तरह, सांख्यदर्शन में भी पुरुष का त्रैविध्य माना गया है। ये तीनों रूप हैं—१. निर्लिप्त-'ज्ञ', २.बद्धपुरुष-जीवात्मा, और ३. मुक्तात्मा। तत्त्वकौमुदी के मंगलाचरण में पं० वाचस्पति मिश्र ने यही कहा है—

अजाये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्।

यहाँ पर मिश्र महोदय ने बहुवचन के प्रयोग से बद्ध/मुक्त दोनों का बहुत्व माना है। बद्ध आत्माएँ, अनादिकाल से संसार में हैं। यदि सभी आत्माएँ बंधी ही रह जायें, तो 'निर्लिप्त' 'त्रिगुणातीत' जैसे विशेषण शब्दों के प्रयोग का अर्थ/आशय क्या लिया जायेगा?

सांख्यों की मान्यता के अनुसार, मुक्त अवस्था में भी, पुरुष सत्त्वगुण से अछूता नहीं रहता है। इसलिए मुक्तावस्था में भी इन्होंने 'पुरुष' की परस्पर भिन्नता मानी है। यह मान्यता स्पष्ट करती है कि जिसे 'निर्लिप्त' और 'त्रिगुणातीत' स्वभाव वाला कहा गया है, वह बद्ध/मुक्त अवस्थाओं से भिन्न, तीसरी, शुद्ध अवस्था वाला 'ज्ञ' ही हो सकता है। इस तरह सांख्यदर्शन में बद्ध/सांसारिक और मुक्त आत्माओं का बहुत्व, तथा शुद्ध स्वरूप वाले 'ज्ञ' का एकत्व माना जाना, स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन तीनों प्रकारों/स्वरूपों का स्वतंत्र अस्तित्व है। जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सांख्यदर्शन में बद्ध, मुक्त और शुद्ध स्वरूप में ज्ञ/पुरुष का त्रैविध्य माना गया है।

जो शुद्ध स्वरूप वाला ज्ञ/पुरुष है, उसमे अलिङ्गत्व, निरवयवत्व, स्वतन्त्रत्व, अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व, साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, औदासीन्य, द्रष्टृत्व, अकर्तृत्व आदि सभी धर्म/गुण उसके निर्लिप्त होने पर ही सिद्ध हो पाते हैं।

पुरुष का बन्ध—सांख्य पुरुष स्वभाव से निर्लिप्त निस्संग, त्रिगुणातीत, नित्य है। अविद्या भी नित्य है और इन दोनों का संयोग भी नित्य है। अविद्या/प्रकृति जड़स्वरूप है। इसमें पुरुष का प्रतिबिम्ब जब भी प्रतिभासित होने लगता है। जिससे वह निष्क्रिय, निर्लिप्त, निस्त्रैगुण्य होने पर भी कर्ता, भोक्ता और आसक्त जैसा जान पड़ता है। प्रकृति-पुरुष के इस आरोपित-स्वरूप को ही सांख्यों ने 'बन्ध' माना है।

बन्ध-विच्छेद—प्रकृति/पुरुष दोनों को ही अपने-अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना, सांख्यदर्शन में बन्ध का अभाव/विच्छेद माना गया है। इसी को 'विवेक बुद्धि' भी कहा गया है। यही पुरुष की 'मुक्ति' है। इसकी प्रक्रिया निम्नलिखित तरह से समझी जा सकती है :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ज्ञान' से अविद्या का नाश हो जाने पर प्रकृति/पुरुष अपने-अपने स्वरूप को जानने लगते हैं[50]। यह ज्ञान ही विवेकबुद्धि उत्पन्न करता है। विवेकबुद्धि उत्पन्न हो जाने पर पुरुष अपने निर्लिप्त/निस्संग स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ हो पाता है। इसके पश्चात्, ज्ञान के अलावा धर्म, अधर्म आदि सात भावों का प्रभाव जब नष्ट हो जाता है, तब, उसके लिये सृष्टि का कोई अर्थ नहीं रह जाता। प्रकृति, इस उद्देश्य के पूर्ण हो जाने पर विरत हो जाती है। और पुरुष, 'कैवल्य' को प्राप्त कर लेता है। किन्तु, प्रारब्ध कर्मों और पूर्वजन्मों के संस्कारों के कारण, कैवल्य पाते ही शरीर नष्ट नहीं होता; अतः इन कर्मों का भोग कर लेने के बाद, संस्कारों का विनाश हो जाने पर शरीर भी नष्ट हो जाता है। तब, पुरुष को 'विदेह कैवल्य' प्राप्त हो पाता है। यानी विवेकबुद्धि प्राप्त हो जाने पर भी, जीव का शरीर तब तक चलता रहता है, जब तक उसके प्रारब्ध कर्मों का उपभोगपूर्वक क्षय नहीं हो जाता। इसी के बाद, वह निरपेक्ष, साक्षी, द्रष्टा होकर, प्रकृति को देखता हुआ भी उसके बन्धन में फिर से नहीं बंधता[51]।

अद्वैत/शाङ्कर वेदान्त में आत्म-चिन्तन

अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से, एकमात्र तत्त्व 'ब्रह्म'/'आत्मा' है। वह आनन्दस्वरूप वाला है[52]। ब्रह्म से भिन्न अन्य सब कुछ 'अज्ञान'/'माया' कहा गया है। यहाँ पर माया/अवस्तु का ज्ञान आवश्यक माना गया गया है। ताकि 'वस्तु' तत्त्व/'आत्मा' 'अवस्तु' से पृथक् हो सके। अवस्तु के ज्ञान के बिना, मन-वाणी से अगोचर वस्तु/आत्मा का ज्ञान सामान्य जनों को नहीं हो पाता।

शाङ्कर वेदान्त में ब्रह्म के अलावा अन्य सारे पदार्थ 'असत्' हैं। इन सब का आरोप ब्रह्म में होता है। यानी, इस आरोप का अधिष्ठान/आधार 'ब्रह्म' होता है। माया, अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा जो सर्जना करती है, वह मायिक/भ्रान्त होती है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान से जो/जितने भी कार्य होते हैं, सिर्फ वे ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही 'विवर्त' है, यह माना गया है।

चैतन्य के दो रूप—सर्वव्यापी चेतन ब्रह्म, एक निर्विशेष तत्त्व के रूप में माना गया है। इसके स्वरूप के दो प्रकार बतलाये गये हैं—(१) चैतन्यरूप (२) माया/उपाधिरूप। इन दोनों रूपों से ही आकाश आदि की सृष्टि होती है। इस सृष्टि में, जब उपाधियुक्त चैतन्य की प्रधानता होती है, तब सृष्टि का निमित्त कारण चैतन्य होता है। और जब माया रूप उपाधि की प्रधानता होती है, तब माया/उपाधि विशिष्ट चैतन्य को सृष्टि का उपादान कारण माना जाता है।

जीवस्वरूप—यहाँ विज्ञानमय कोष से आवृत चैतन्य को 'जीव' पद से कहा गया है। चैतन्य, चूंकि व्यापक, निष्क्रिय, विभु और सर्वत्रस्थित माना गया है। उसमें गमन-आगमन आदि क्रियायें नहीं होतीं। इसलिये यहाँ, वस्तुतः विज्ञानमय कोश ही चैतन्य की सहायता से इह/परलोक को प्राप्त होता है। यही जीवात्मा कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी होता है। बद्ध होने से, यही मुक्ति को प्राप्त करता है।

अद्वैत दर्शन में जीवात्मा और परमात्मा का तादात्म्य स्वीकार किया गया है। उपाधि बल से दोनों में जो भेद है, वह कल्पित है। इस उपाधि के नष्ट हो जाने पर, जीवात्मा अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है। यही तो ब्रह्म/परमात्मा का स्वरूप है। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा, यही सब भली-भाँति बतलाया गया है।

---

50. सांख्य कारिका—37

51. सांख्य कारिका—65

52. सच्चिदानन्दं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्मणो विद्यात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में आत्मविचार

जैन दर्शन जगत् को मूलतः 'जीव' और 'अजीव' दो तत्त्वों में विभाजित करता है। 'आत्मा'/'चेतन' को 'जीव' कहा गया है। 'जीव' के/'बद्ध' और 'मुक्त' दो सामान्य भेद कहे गये हैं। जन्म-मृत्यु के चक्र में संसरण करता हुआ और इसी में अनुरक्त 'जीव' विविध कर्मों को करता है और 'बन्ध' को प्राप्त होता है। कर्मबन्धन से युक्त जीव को 'बद्ध'/'संसारी' कहा जाता है[53]। जिन्होंने बन्ध को नष्ट कर दिया, वे 'मुक्त' जीव हैं।

जीव-स्वरूप—त्रैकालिक जीवन गुण से युक्त होने से 'जीव' संज्ञा सार्थक कही गई है। 'जीवन' का आधार दशविध 'प्राण' बतलाये गये हैं। यह व्यवहार दृष्टि है। निश्चय दृष्टि से, जिसमें 'चेतना' पायी जाये, वह 'जीव' है[54]। जैनदर्शन में चेतना को 'भावप्राण' भी कहा गया है।

जीव का लक्षण—जैनदर्शन में जीव का लक्षण 'उपयोग' कहा गया है। उपयोग, चेतना का अनुविधायि परिणाम होता है[55]। इसे 'ज्ञान' और 'दर्शन' नाम से दो भेदों वाला बतलाया गया है। इन दोनों के धारक को 'जीव' कहा जाता है।

जीव के गुण—स्वरूप-लक्षण के अनुसार जीव 'उपयोगमय' है। इसमें रहने वाली चेतना/उपयोग में संकोच/विस्तार की सामर्थ्य होती है। इसलिये वह चींटी और हाथी जैसे शरीरों में, उनकी देह के प्रमाण में, रहता है। इसलिये उसे 'स्वदेहप्रमाण' माना गया। अनादि कर्मबन्ध के कारण, वह नानाविध कर्मों को करता है, और उनके फलों को भी भोगता है। अतः वह 'कर्ता' और 'भोक्ता' भी है। अरूपी होने के कारण उसे 'अमूर्त्त' माना गया। और वह, स्वभावतः 'ऊर्ध्वगमनशील' है। संसारावस्था से 'मुक्त' हो जाने पर उसे 'सिद्ध' कहा जाता है।

जीव का द्रव्यत्व—'जीव' में अचेतन पदार्थों की तरह, 'प्रदेश' और 'अवयव' भी माने गये हैं। उसे, इसी कारण 'अस्तिकाय' कहा गया[56]। उसमें प्रतिक्षण परिणमन क्रिया होती रहती है। फिर भी वह अपने मूलरूप/गुणों को नहीं छोड़ता। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, उसमें सदा पाये जाते हैं। इन कारणों से इसे भी एक द्रव्य माना गया[57]।

आत्मा का लक्षण—जैन वाङ्मय में 'अतति/गच्छति इति आत्मा' रूप में 'आत्मा' की परिभाषा दी गई है। 'गमन' अर्थवाली धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती हैं। इसलिए, जो 'ज्ञान' आदि गुणों में आ-समन्तात् रहता है, अथवा, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप त्रिक के साथ, जो समग्रतः रहता है, वह 'आत्मा' है[58]।

आत्मा के भेद—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा 'एक' है। किन्तु, पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से परिणामात्मक होने के कारण, इसके तीन प्रकार माने गये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा[59]। संसारी आत्मा/जीव, शरीर आदि पर-द्रव्यों में 'आत्मबुद्धि' रखता है। अतः वह 'बहिरात्मा' है[60]। जब, उसकी यह पर-बुद्धि दूर हो जाती है, यानी उसके 'मिथ्यात्व' के मिट जाने पर, उसमें 'सम्यक्त्व' आ जाता है, तब वह 'अन्तरात्मा' बन जाता है[61]। अन्तरात्मा के भी 'उत्तम' 'मध्यम' और 'जघन्य' तीन प्रकार हैं।

---

53. तत्त्वार्थराजवार्तिक—2/10/1
54. वही—1/4/7
55. तत्त्वार्थराजवार्तिक—2/8/1
56. द्रव्यसंग्रह—23, 24
57. पञ्चास्तिकाय—9/12/13
58. बृहद्द्रव्यसंग्रह—57
59. मोक्षप्राभृत—4
60. अध्यात्म कमलमार्तण्ड—3/12
61. वही—3/12

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'परमात्मा', 'सकल' और 'विकल' भेद से, दो प्रकार का माना गया है। सर्वज्ञ/अर्हन्त को 'सकल परमात्मा' और 'सिद्ध' 'परमेष्ठी' को 'विकल परमात्मा' बताया गया है[62]।

बन्ध प्रक्रिया—जैनदार्शनिकों ने मन, वचन और काय में 'स्पन्दन'/क्रिया मानी है। इसे वे 'योग' कहते हैं[63]। राग-द्वेष के निमित्त से, जब-जब भी ये स्पन्दन होते हैं, तब, हर स्पन्दन के द्वारा, एक अचेतन द्रव्य/कर्मपरमाणु, बीजरूप में, जीव में प्रवेश कर जाता है। और, आत्मा के साथ चिपक/बंधकर रह जाता है। समय आने पर, यही सुख/दुःख देने में समर्थ हो जाता है। इसी को 'कर्म' और 'कर्मबन्ध' समझना चाहिए[64]। जीव के राग-द्वेष आदि वासनाएँ, तथा कर्मबन्ध की परम्परा बीज-वृक्ष की तरह अनादि हैं। राग-द्वेषपूर्वक होने वाले मन-वाणी-शरीर के स्पन्दनों से नये-नये कर्मों का बन्ध होता है। यहाँ, राग-द्वेष की उत्पत्ति से 'भावास्रव', और इन दोनों से युक्त परिस्पन्दन के साथ बीजरूप कर्मपुद्गल के प्रवेश को 'द्रव्यास्रव' कहा जाता है। भावास्रव से 'भावबन्ध' और 'द्रव्यास्रव' से 'द्रव्यबन्ध' होता है[65]। इसके अलावा 'मिथ्यात्व' 'अविरति' 'प्रमाद' और 'कषाय' को बन्ध का प्रमुख कारण माना गया है।

बन्धकारणों से आत्मा के मूलगुण/धर्म प्रभावित होते हैं। जिससे वह 'परभाव' परिणति करता हुआ, संसारावस्था को और सुदृढ़ बनाता रहता है।

मोक्ष—जो कर्म, आत्मा के साथ चिपके/बंधे हैं, उनका सर्वथा उच्छेद/विनाश हो जाना 'मोक्ष'[66] है। कर्मबन्ध का विनाश हो जाने पर आत्मा स्वतंत्र हो जाता है। और अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष प्रक्रिया—जैनदर्शन, कर्मबन्ध विनाश/मोक्ष की प्रक्रिया को 'संवर' और 'निर्जरा' रूप में, दो चरणों में बाँटता है। प्रथम चरण में, नये-नये कर्मों को बंधने से रोकना, और दूसरे चरण में, पूर्व में बंधे कर्मों का उच्छेद करना, विहित किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र[67], स्थानाङ्ग सूत्र[68] और दशाश्रुतस्कंध[69] में मोक्ष-प्रक्रिया/कर्म-विच्छेद का क्रम वर्णित है। इनका सांराश इस तरह है।

जीव, राग-द्वेष और मिथ्यात्व को जीतकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना में तत्पर होता है। और, आठ प्रकार की कर्मग्रंथियों को भेदने/छेदने का प्रयत्न करता है। इस प्रयास में वह सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की अट्ठाइस प्रकृतियों को नष्ट करता है। फिर, पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय, और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्मों का युगपत् एक साथ क्षय करता है। इसके बाद, उसमें आवरण रहित, अनन्त और परिपूर्ण केवलज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं। इन दोनों का सद्भाव होने तक ज्ञानावरणीय आदि चारों घनघाति कर्मों का विनाश हो चुका होता है। इसी अवस्था में उसे 'सर्वज्ञ'/'अर्हन्त/'केवली' जैसे नामों से सम्बोधित किया गया है। इसी अवस्था को वेदान्त की 'जीवन्मुक्त' अवस्था जैसा कह सकते हैं। इसके उपरान्त जब केवली/सर्वज्ञ की आयु का मात्र एक मुहूर्त शेष रह जाता है, तब, वह सबसे पहले अपने मानसिक स्पन्दन को रोकता है, फिर वाणी और शरीर के स्पन्दन को, और श्वासोच्छ्वास को रोककर, शुक्लध्यान की चतुर्थ श्रेणी—शैलेशीकरण—में स्थित हो जाता है।

---

62. समाधितन्त्र—5
63. तत्त्वार्थसूत्र—6/1
64. कर्मप्रकृति—प्रस्तावना,
65. पञ्चास्तिकाय—147
66. तत्त्वार्थसूत्र—सर्वार्थसिद्धि—1/4
67. दशवैकालिकसूत्र—4/14-25,
68. स्थानाङ्गसूत्र—3/3/190
69. दशाश्रुतस्कन्ध—5/1/3, 5/11,16

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान की यह स्थिति, पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल जितने समय में, 'वेदनीय' 'आयुष्य' 'नाम' और 'गोत्र' चार अघाति कर्मों का, एक साथ क्षय कर देती है। फलतः, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने के साथ-साथ औदारिक, कार्मण और तैजस शरीरों से भी, उसे हमेशा-हमेशा के लिये मुक्ति प्राप्त हो जाती है। अब, वह अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से लोकाग्र तक पहुंचता है, और 'सिद्ध'/'मुक्त' बन कर ठहर जाता है[70]।

आत्म-सिद्धान्तों का समालोचन

चार्वाक—चार्वाक मान्यता के आचार्य मूलतः प्रत्यक्षवादी थे। उनके अनुसार पृथिवी-जल-तेज और वायु, इन चारों भूतों से ही सृष्टि की संरचना, और देह की उत्पत्ति होती है। देह में चैतन्य का समावेश भी, इन्हीं चारों के संयोग से होता है। इस तरह, इनके अनुसार, चैतन्य-विशिष्ट देह ही 'आत्मा' है। इससे भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि से मिलने वाला सुख ही स्वर्गसुख है। और लोक व्यवहार में मान्यता प्राप्त 'राजा' ही 'परमेश्वर' है। तथा, देह का नाश हो जाना ही 'मोक्ष' है।

चार्वाक की मान्यता है—'जो दिखलाई देता है, वही विश्वसनीय है'। इस मान्यता के अनुसार, दृश्यमान जड़ पदार्थ ही विश्वसनीय ठहरते हैं। 'आत्मा' 'ईश्वर'/'परमात्मा', पुनर्जन्म आदि तथा आस्तिक दर्शनों में माने गये जो तत्त्व इन्द्रियगम्य नहीं हैं, वे भी, अदृश्य होने के कारण विश्वसनीय नहीं हैं। ऐसे पदार्थों के प्रति जिज्ञासा को चार्वाकाचार्य कपोलकल्पना/मूर्खता मानते हैं। यही इनका जड़वादी/भूतवादी सिद्धान्त है।

'भूतवाद' के अनुसार, प्रत्येक वस्तु, पहले जड़/अचेतन अवस्था में रहती है। बाद में, उनके सम्मेल से, उसमें चेतना उत्पन्न हो जाती है। यानी, स्वभावतः जड़ पदार्थों का परिणाम 'चेतना' है।

यहाँ जो चेतन तत्त्व माना गया है, वह ज्ञान, बुद्धि और अनुभव से युक्त है। इस दृष्टि से, अब तक की सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया में, एकमात्र मनुष्य ही महानतम है। फिर भी उसे शाश्वत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह, देश/काल की सीमितता में परिवेष्टित है। अतएव, वह एकदेशीय और नश्वर है। वस्तुतः, वह ऐसे ही तत्त्वों से उत्पन्न माना गया है।

इस देहात्मवाद के बारे में आचार्य शङ्कर का कहना है[71]—'देह ही आत्मा है' यह प्रतीति ही जीवात्मा के समस्त कार्यों/व्यापारों में मूल कारण होती है। आत्मा को देह से भिन्न मानने वाले भी व्यावहारिक रूप में, देहात्मवादी सिद्ध होते हैं। किन्तु, यहाँ पूर्व उल्लिखित विवेचनों से यह स्पष्ट है, कि चार्वाकों के अलावा, अन्य समस्त तत्त्वज्ञों ने, आत्मा का स्वरूप, देह से भिन्न ही माना है।

बौद्ध—बौद्धदर्शन में जीव, जगत् और जन्म के विषय में 'प्रतीत्य समुत्पाद' के आधार पर विचार किया गया है। यह एक मध्यममार्गीय सिद्धान्त है। इसके अनुसार, एक ओर तो वस्तु समूह के अस्तित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं माना गया है। किन्तु, 'वे वस्तुएँ नित्य हैं' यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, उनकी उत्पत्ति, अन्याश्रित मानी गई है। दूसरी ओर, वस्तु समूह का पूर्ण विनाश नहीं माना गया। बल्कि, माना यह गया, उनका अस्तित्व, विनाश के बाद भी, इस संसार में रहता है। इस तरह, वस्तुतत्त्व, न तो पूर्णतया नित्य है, न ही सर्वथा विनाशशील है।[72]

---

70. उत्तराध्ययन—20/71/73, 71. शांकरभाष्य की प्रस्तावना और समन्वयसूत्र भाष्य के अन्त में
72. भारतीय दर्शन—डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 351

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध के इस सिद्धान्त में 'आत्मा' को कोई स्थान नहीं है। उपनिषत्क आत्मा की तरह, इनका आत्मा भी न तो नित्य है, न ही अविनाशी है। बल्कि, इनकी दृष्टि में 'आत्मवाद' महा-अविद्या रूप है। इसी अविद्या के कारण, जीवात्मा द्वादश अवस्थाओं के भवचक्र में परिभ्रमण करता रहता है।

रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार और विज्ञान, इन पाँचों के समूह/संघात रूप में आत्मा को मानने के सिद्धान्त में, कोई वास्तविकता नहीं जान पड़ती। क्योंकि, बुद्ध के मत में, जगत् के सारभूत उक्त पञ्चस्कन्ध भी अनित्यात्मक हैं, और दुःखस्वरूप हैं। पञ्चस्कन्ध के विषय में 'इदं मदीयम्' 'अयमहम्' 'अयं ममात्मा' आदि प्रकार की कल्पना भी सर्वथा अनुचित जान पड़ती है। क्योंकि वे, रोग/बाधाग्रस्त और क्षणिक हैं। इसलिए उन्हें 'आत्मपदवाची' न मानकर 'दुःखपदवाची' माना जायेगा। इससे भी आगे, बौद्धों ने यहाँ तक स्पष्ट कहा है—'इनके द्वारा मानव जाति का कोई भी कल्याण सम्भव नहीं होता। फिर उनके ऊहापोह की आवश्यकता ही क्या है ?' इस तरह उन्होंने पञ्चस्कन्ध से उत्पन्न 'शरीर', और उसमें स्थित 'आत्मा' को भी अवास्तविक ठहराया है।

बुद्ध से पहले, दार्शनिक जगत् में आत्मा का जो स्थान था, और उससे सम्बन्धित, परम्परागत जो सिद्धान्त मौजूद थे, उनका मनन करने के बाद, उन्होंने यह निष्कर्ष दिया—'शरीर ही आत्मा है'—यह एक एकान्त कथन है। 'शरीर से आत्मा भिन्न है'—यह दूसरा एकान्त कथन है। इन दोनों कथनों से परे रहने वाला, मध्यम मार्ग रूपी सिद्धान्त यह है—'नामरूप से षडायतन, षडायतनों से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, और जाति से जरा-मरण की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति का यही क्रम है।

इस तरह बुद्ध ने शाश्वतवाद/उच्छेदवाद की अतिवादिता से दूर रहकर कहा है—'जगत् में दुःख, सुख, जन्म, मरण, बन्ध, मोक्ष आदि सभी हैं; किन्तु, इनका आधारभूत कोई आत्मा नहीं है। ये सारी अवस्थाएँ, एक दूसरी नई अवस्था को उत्पन्न करके नष्ट होती रहती हैं। पूर्व अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था का न तो सर्वथा उच्छेद होता है, न ही वह सर्वथा स्थायी रहती है। यानी पूर्व अवस्था का अस्तित्व ही उत्तरवर्ती अवस्था को उत्पन्न करता है।

वैदिक सिद्धान्त—जिस विधान से प्रकृति के नियम शासित हैं, वह धर्म-विधान है। जहाँ यह धर्म-विधान है, वहाँ इसके नियामक किसी 'चेतन' की स्वीकृति भी आवश्यक हो जाती है। जड़ प्रवाह रूप जगत् व्यापार का संचालक, कल्याणी बुद्धि से सम्पन्न चेतन पुरुष ही हो सकता है। यह कर्म-जगत्, उसी धर्मप्रवण/विचारशील के आधीन है। वही इस जगत् का नियन्ता, शास्ता, अधिष्ठाता है। वेदों में, इसी चेतन पुरुष का साक्षात्कार निर्दिष्ट है। उसे, यहाँ 'देवता' नाम से कहा गया है। ये वैदिक देवता अदृष्ट शक्ति रूप चैतन्य के विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं। उन्हें विश्वनियन्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

वेदों में 'बहुदेववाद' और 'एकदेववाद' रूप में, देववाद के दो रूप विद्यमान हैं। वेदान्त में जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य जिस तरह से प्रतिपादित किया गया है, उसका मूल रूप वेदों में कहीं-कहीं दिखाई दे जाता है। ऋग्वेद में ऐसे विश्लेषण, अपेक्षाकृत अधिक हैं।[73] अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म और माया के द्वैत की जो कल्पना की गई है, उसका दिग्दर्शन, इस श्रुतवाक्य में स्पष्ट दिखलाई देता है[74]—

73. ऋग्वेद—2/3/23/46, 3/7/14/5

74. वही—4/7/33/18

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश ।।

अर्थात्, सर्व व्यापक चित्स्वरूप परमात्मा, प्रत्येक शरीर में निहित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ, जीवभाव को प्राप्त होता है । जैसे—घड़े में स्थित जल में प्रतिबिम्बित आकाश, घटाकार/घटभाव को प्राप्त करता है ।

उपनिषत्-सिद्धान्त— उपनिषदों में आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन कहा गया है । जन्म-मरण से रहित यह आत्मा शरीर का नाश हो जाने पर भी अस्तित्व में रहता है । उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता । यही तथ्य यमराज द्वारा नचिकेता को दिये गये उपदेश में स्पष्ट हुआ है ।[75]

उपनिषदों का ब्रह्म भी सत्, व्यापी, नित्य, अनन्त, शुद्ध और चेतन है । यह समस्त आत्माओं का आत्मा है । इसी से जगत् का विस्तार होता है और अस्तित्व बना रहता है । जगत् का सम्पूर्ण विलय भी इसी में रहता है । प्रकृति और इसकी शक्तियाँ, ब्रह्म के ही अंश हैं । इस तरह उपनिषदों का ब्रह्म समस्त प्राणियों में अन्तर्भूत, किंवा विश्वरूप है ।

उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहाँ 'जीव' (संसारी-आत्मा) वैयक्तिक आत्मा है । 'आत्मा' तो 'परमात्मा' है ही । ये दोनों, क्रमशः अन्धकार/प्रकाश रूप हैं । इनमें, जीवात्मा अनुभवयुक्त है । अतः, वह पूर्वकृत कर्मों के फलबन्ध से वह बँधा रहता है । जबकि आत्मा, 'नित्य' और 'कर्मबन्ध-मुक्त' है ।

इस तरह के आत्मा का उद्देश्य आत्मज्ञान प्राप्त करना, और बाद में अपने बन्धनों तथा द्वैतभाव को तोड़/छोड़कर, अपने वास्तविक स्वरूप,परमात्मत्व का सान्निध्य प्राप्त करना होता है ।

अनन्त कर्मबन्ध से बँधे हुए जीव की मुक्ति के लिये, मोक्ष मार्ग का निर्देश देते हुए कहा गया है—'हेतुरूप ब्रह्म की उपासना से विशुद्ध मोक्ष, और कार्यरूप जगत् की उपासना से मोक्षरूप फल (कर्मफल) प्राप्त होता है । जो, इन दोनों तथ्यों को युगपत् जानता है, वह 'मृत्यु'/'असम्भूति' को जीतकर, 'मोक्ष'/ 'सम्भूति' को प्राप्त करता है ।[76]

इस तरह, भारतीय तत्त्वविद्या की स्रोत रूप उपनिषदों में, जीवन की विभिन्न धाराओं का वर्णन, एक महोदधि में विलय की तरह प्रतिपादित किया गया है । यानी, अनेकता में एकता की स्थापना की गई है । इनका मुख्य महत्व यह है कि ये उपनिषत्, मानवता के लिए श्रेयस्कर/हितकर, दोनों ही प्रकार के तत्त्वों का समानता के साथ प्रतिपादन करती हैं ।

न्यायदर्शन— न्यायदर्शन में आत्मा को स्पर्श आदि गुणों से रहित, ज्ञान/चैतन्य का अमूर्त आश्रय, और निराकार स्वीकार किया गया है । वह देश/काल के बन्धन से मुक्त, सीमातीत, विभु और नित्य है । वह इन्द्रियों का उपभोक्ता भी है । मन को, आत्मा और इन्द्रियों का संदेशवाहक माना गया है और बुद्धि को आत्मा का गुण । इस तरह आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है । शरीर के साथ आत्मा का संयोग 'पूर्वकृत' के उपभोग के लिए होता है । इसलिए नैयायिक शरीर को आत्मा का 'भोगायतन' मानते हैं ।

न्याय-सिद्धान्तों के अनुसार, अनादिकाल से ही एक-एक जीव का मन के साथ संयोग है । इस

---

75. कठोपनिषद्—1/2/12

76. ईशोपनिषद्—12/14

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयोग का हेतु 'अविद्या' है। यह जीव, अनन्त शरीरों में भ्रमण, मन के साथ करता है। मुक्त अवस्था में भी यह मन, प्रत्येक अवस्था के साथ रहता है। इसी कारण, एक आत्मा को दूसरी आत्माओं से भिन्न माना गया है। आशय यह है कि जीव 'मन' से कभी भी मुक्त नहीं होता। 'जीव' व्यापक है, किन्तु मन के संयोग के कारण वह 'अव्यापक' जैसा जान पड़ता है; और इसी के संयोग के कारण, अनादि कर्म-संस्कारोंवश, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता रहता है।

यद्यपि समस्त दुःखों का विनाश हो जाने पर, आत्मा का 'मुक्त' हो जाना नैयायिकों ने माना है; किन्तु, मन से इसे मुक्ति नहीं मिल पाती। इस कारण, संसारावस्था में स्थित आत्मा, और मुक्त अवस्था में स्थित आत्मा में सिर्फ यह अन्तर होता है कि संसारावस्था में, इसके ज्ञान-सुख-दुःख आदि गुण उत्पन्न होते रहते हैं; मुक्त अवस्था में ये गुण उत्पन्न नहीं होते, किन्तु उस अवस्था में, इन गुणों की स्वरूप-योग्यता तो उसमें रहती ही है।

इस तरह आत्मा को संसारावस्था में दूसरे द्रव्यों से पृथक् मानने में, उसके 'गुणास्तित्व' को, और मुक्त अवस्था में इन गुणों की 'स्वरूप योग्यता' का पृथक्त्व साधक माना गया है। इससे, यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि मुक्त जीव में भी 'स्वरूप-योग्यता' जैसी संसारावस्था रहती है। यदि उस मुक्त जीव को, किसी तरह शरीर आदि साधन वहाँ मिल जायें, तो उसमें और संसारी जीव में, कोई फर्क न रह जाये।

मीमांसा सिद्धान्त—मीमांसा दर्शन में 'आत्मा' शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न और 'नित्य' है। 'यजमानः स्वर्गं याति' इस तरह के श्रुतिवाक्यों में 'यजमान' शब्द से उसका 'शरीर' ग्रहण नहीं किया जाता, वरन् उसका 'जीवात्मा' ही ग्रहण किया जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर, उसके द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का संचय आत्मा में हो जाता है। कर्मों के इसी संग्रह से, दूसरे जन्म में आत्मा 'सशरीरी' बनता है और पूर्व में किए गए कर्मों का फल भोगता है। यह आत्मा 'नित्य' होने के कारण, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त माना गया है। किन्तु उसे 'कर्ता' 'भोक्ता' भी माना गया है। 'अहं' अनुभूति के द्वारा उसे प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है। वह विभु है, ज्ञाता है, और ज्ञेय भी है।

यह दर्शन, प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्माओं को मानता है और, उनमें मौजूद 'चैतन्य' को यह 'औपाधिक' गुण मानता है। जब यह मुक्त/सुषुप्त अवस्था में होता है, तब ये औपाधिक गुण उसमें नहीं रहते। इसलिए, आत्मा जड़रूप हो जाता है। 'जड़' होने के कारण वह 'बोध्य' भी हो जाता है।

यदि प्रत्येक शरीर में स्थित आत्माओं को एक मान लिया जाये, तो एक 'जीव' द्वारा किए गये कर्मों का फल, दूसरे जीवों को भी भोगना पड़े। चूंकि 'कर्म' और 'कर्मफल' की विवेचना, मीमांसकों का मुख्य प्रतिपाद्य है। इसी की व्यवस्था के लिए, प्रत्येक शरीर में आत्मा की भिन्नता स्वीकार की गई है।

प्रभाकर के मत में भी आत्मा जड़ स्वभाव वाला है। किन्तु, उसका 'ज्ञान' 'स्वप्रकाशक' है। प्रभाकर की यह विवेचना, भट्ट की अपेक्षा, श्रेष्ठ और बुद्धियुक्त जान पड़ती है। मीमांसकों ने, नैयायिकों की ही तरह, आत्मा का 'बहुत्व', और मुक्त अवस्था में भी उसे 'स्वतन्त्र' तथा 'एक दूसरे से भिन्न' माना है।

सांख्य-सिद्धान्त—सांख्यदर्शन में एक चेतन तत्त्व 'पुरुष' और दूसरा अचेतन तत्त्व 'प्रकृति' है। अनादिकाल से अविद्या के संसर्ग से प्रकृति-पुरुष दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। इससे पुरुष का प्रतिबिम्ब प्रकृति में निरन्तर पड़ता रहता है। चेतन के इस प्रतिबिम्ब सम्पर्क से, प्रकृति में चेतन जैसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य आ जाती है। पुरुष के प्रतिबिम्ब से प्रभावित प्रकृति के गुणों का आरोप पुरुष में भी हो जाता है। जिससे, स्वभावतः निर्लिप्त, त्रैगुण्यरहित, असंगी पुरुष स्वयं को कर्त्ता/भोक्ता आदि रूपों में अनुभूत करने लगता है। इन दोनों में परस्पर अध्यासित आरोप, जब ज्ञान के द्वारा नष्ट होते हैं, तब, पुरुष, अपने को प्रकृति से भिन्न अनुभव करने लग जाता है। प्रकृति भी पुरुष का परित्याग कर देती है, और उसके लिए की जाने वाली सर्जना, से विराम ले लेती है। इसी को 'विवेक बुद्धि'/'भेदबुद्धि'/'कैवल्य प्राप्ति' कहा गया है। इसी से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। अतः विवेकबुद्धि उत्पन्न हो जाने के पश्चात् पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहकर ही प्रकृति को देखता है। उसके बन्धन में फिर नहीं आता। 'पुरुष' की यही मोक्षावस्था है।

सांख्यों ने मुक्त अवस्था में भी 'पुरुष' को प्रकृति का दर्शक माना है। इस मान्यता से यह स्पष्ट होता है कि मुक्त-अवस्था में वह न तो प्रकृति से सर्वथा 'मुक्त' हो पाता है, न ही सत्त्वगुण से। क्योंकि उसमें सत्त्वगुण का, कुछ न कुछ अंश बचा ही रहता है। इसके बिना उसमें देखने की सामर्थ्य नहीं आ सकती।[77] और, जब वह वहाँ देखने में लीन होता है, तब, उसमें तमोगुण का भी अभिभव अवश्य हो जाता है।[78] सांख्यदर्शन मानता है कि गुण, परस्पर अभिभव का सहारा लेकर, मिश्रित रूप से ही अपना व्यवहार/व्यापार करते हैं। फिर सत्त्व और तम दोनों ही गुणों में, पुनः एक दूसरे को अभिभूत करने की आशंका बनी रहती है। इस स्थिति में, यह कैसे माना जा सकता है कि मुक्त पुरुष को दुःखों की आत्यन्तिक/एकान्तिक रूप से दुःखों से निवृत्ति मिल जाती है? वैसे भी सांख्यदर्शन में किसी वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं माना गया। अपितु, पदार्थ के एक रूप से दूसरा रूप परिणमित होता देखा जाता है। इसी तरह, मुक्त अवस्था में भी कोई स्थिति ऐसी नहीं मानी जा सकती, जिसमें तमोगुण का भी अभाव हो सकता हो। वाचस्पति मिश्र ने भी यही आशय तत्त्व कौमुदी में व्यक्त किया है।[79]

सांख्यदर्शन पुरुष में जिस विवेकख्याति/भेदबुद्धि की प्राप्ति को मुक्तिरूप में स्वीकार करता है, वह ख्याति/बुद्धि सत्त्वगुण रूप ही होती है। इसलिए मुक्त अवस्था में यदि ख्याति/बुद्धि की मौजूदगी मानी जाती है, तो वहाँ सत्त्वगुण की भी स्थिति अवश्य मानी जायेगी। इससे उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध भी अवश्य सम्भावित हो जाता है। इस दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि सांख्यों का पुरुष, मुक्त अवस्था में भी वस्तुतः प्रकृति से मुक्त नहीं हो पाता।

अद्वैत-सिद्धान्त—बुद्धि, मन, अहंकार, चित्त, अन्तःकरण की वृत्तियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से विज्ञानमय कोश की, तथा उससे आवृत चैतन्य जीव की उत्पत्ति होती है। इस मान्यता के अनुसार 'शरीर' और 'आत्मा' दोनों को ही 'जीव' मानकर, उसे 'ईश्वर का अंश' कहा गया है। माया का परिणाम होने के कारण, स्थूल/सूक्ष्म शरीरों वाला 'आत्मा' ही 'जीव' कहा गया है। आत्मा के प्रत्येक व्यवहार में स्वतःप्रामाण्य माना गया है। यही आत्मा, आनन्द-ज्ञानस्वरूप, सत्, कूटस्थ नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त तथा ज्ञाता है। इस मान्यता में 'आत्मा' और 'ब्रह्म' की एकता स्पष्ट है। प्रत्यक्/व्यक्तिगत आत्मा ही बुद्धि, मन आदि की वृत्तियों से आवृत चेतना है। जबकि 'ब्रह्म' विशुद्ध, विनिर्मुक्त चेतना है। माया का वशीभूत हुआ और अन्तःकरण की वृत्तियों से आबद्ध ब्रह्म ही आत्मरूप को प्राप्त होता है। जैसे घट के छिन्न-भिन्न हो जाने पर घटाकाश, बाह्याकाश में सम्मिलित होकर, उसी जैसा हो जाता है। इसी तरह, आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं है।

---

77. सांख्यकारिका—तत्त्वकौमुदी—(सात्त्विकया-भेदोऽस्त्येव) 65
78. वही—(अन्योन्याभिभवा०) 12
79. वही—तत्त्व कौमुदी—1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह दृश्यमान जगत् माया का विलास है, इसलिए मिथ्या है। संश्लेष' ही जीव का 'बन्ध' है। असत्यरूप सांसारिक पदार्थ, माया के परिणाम से 'सत्य' जैसे प्रतिभासित होते हैं। किन्तु, जब जीवात्मा का परमात्मा के साथ साक्षात्कार हो जाता है, तब उसका 'जीवत्व' नष्ट हो जाता है। यही उसके बन्ध का विनाश है। इसके उपरान्त, जीवात्मा का ब्रह्म में विलय हो जाना, उसका 'मोक्ष' होता है। अविद्या के कारण वह 'ब्रह्मत्व' से च्युत होकर 'जीवत्व' को प्राप्त होता है। इसी अविद्या के कारण 'आत्मा'/'परमात्मा' में, 'जीव'/'ब्रह्म' में द्वैत प्रतिभासित होता है।

जैन सिद्धान्त—जैनदर्शन, 'आत्मा' को एक स्वतंत्र द्रव्य के रूप में मानता है। उसकी संसारावस्था, स्वयं की प्रवृत्तियों से उत्पन्न कर्मबंध के कारण उत्पन्न होती है। 'कर्मबंध' का हेतु, उसका मिथ्याज्ञान-दर्शन माने गये हैं। यह हेतु, उसके पूर्वजन्मों के अशुभ-व्यवहारों से उत्पन्न 'आवरणीय' कर्म-जनित होते हैं। आवरण, उसके सम्यग्ज्ञान-श्रद्धान की सामर्थ्य को ढक लेते हैं। जिससे उसकी प्रवृत्ति पर-पदार्थों में 'आत्मपरक' होने लगती है। यही प्रवृत्ति, उसके भव-संसरण की संचालिका होती है।

पर-प्रवृत्ति के इस रहस्य को समझ लेने वाला जीवात्मा, अपने में से 'मिथ्यात्व' को हटाकर 'सम्यक्त्व' को जागृत करता है। जिससे उसकी प्रवृत्ति आत्मपरक होने लगती है। शनैः शनैः, वह आत्म-गुणों/शक्तियों को प्राप्त करने लगता है, और बंधे हुए कर्मों को सर्वथा नष्ट कर लेने के बाद, वह अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेता है। इस तरह, संसारी जीवात्मा, परमात्मा बन जाता है।

निष्कर्ष

भारतीय दर्शनों के आत्मचिन्तन की समीक्षा से यह निष्कर्ष ज्ञात होते हैं—

(१) चार्वाकाचार्यों ने 'आत्मा' को भौतिक स्वरूप के अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं माना। किन्तु, उनकी मान्यता में महत्वपूर्ण तत्त्व यह है कि वे, आत्मा की और सृष्टि की भी उत्पत्ति, असत् पदार्थों से नहीं मानते। उनके सिद्धान्तों के अनुसार, यह दृश्यमान जगत् 'सत्' है। इसका सर्वथा विनाश नहीं होता। इसे वे वास्तविक, स्वाभाविक और प्राकृतिक मानते हैं।

(२) बौद्धों ने पञ्चस्कन्धात्मक आत्मा के स्वरूप का जो वर्णन किया है, उसके अनुसार आत्मा का कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता। उनका जो 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है, वह, विभिन्न प्रश्नों से व्यथित मानस को क्षणिक तुष्टि देने के लिये कल्पित किया गया वाग्जाल मात्र जान पड़ता है। क्योंकि, जब दुःख-सुख, जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष आदि का आधारभूत तत्त्व ही कोई न होगा, तब, कौन दुःख-सुख का भागी होगा ? कौन जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त होगा ? और कौन अच्छे/बुरे कर्म-फलों से बन्धन को प्राप्त होगा ? इस सबसे छुटकारा/मोक्ष भी कौन प्राप्त करेगा ?

(३) वेदों में, आत्मवर्णन के रूप में 'बहुदेववाद' या 'एकेश्वरवाद' के जो वर्णन मिलते हैं, उनसे यह अनुमान होता है कि जो ऋषि, जिस देवता के प्रभाव/क्षत्र में रहा, उसने, उसी का माहात्म्य विशेष रूप से वर्णित किया। देवताओं में आत्मा/परमात्मा की जो परिकल्पना की गई है, उसका आशय यही जान पड़ता है कि उस समय के लोगों के अभिप्रेत पदार्थों/कामनाओं की पूर्ति, जिन-जिन देवताओं की उपासना से हो जाती रही, उन्हीं देवताओं को उन्होंने लोक में सर्वश्रेष्ठ मान लिया।

(४) उपनिषत्कालीन महर्षि, दिन-रात तत्त्व-गवेषणाओं में तल्लीन रहे; उनके जो अनुभव, आज हमें मिलते हैं, उनमें, आज के अनेक सिद्धान्तों के बीज-बिन्दु ही नहीं पाये जाते हैं, बल्कि, उन सब की सैद्धान्तिक विवेचना भी स्पष्टतः देखते हैं। जीवन और जगत की व्याख्या, किसी एक तरीके से, ठीक ठीक नहीं की जा सकती। क्योंकि यह जगत्, यथार्थतः अनन्तधर्मात्मक है। उपनिषत्कालीन आचार्यों ने,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत् की व्याख्या, कई दृष्टिकोणों से की है। उनकी इस पद्धति में, आज के हर तरह के प्रश्नों का, और उनके समाधानों का निदर्शन सहज ही देख सकते हैं। जगत् के एक-एक स्वरूप की विवेचना, और उसके स्वरूप से जुड़े प्रश्नों के उत्तर आदि सबको मिलाकर, समुदित रूप से जब तक विचारणा/चिन्तना नहीं की जायेगी, तब तक, जगत् के विश्वरूप की की जाने वाली व्याख्या/विवेचना में समग्रता नहीं आ सकती।

(५) नैयायिकों ने जो आत्म-विवेचन किया है, उसमें आत्मा के सर्वविध दुःखों का अभाव 'मोक्ष' बतलाया गया है। किन्तु, वहाँ/मोक्ष में, आत्मा के साथ 'मन' का संयोग बना रहता है। जिससे उसे 'परमात्मा' कैसे माना जा सकेगा ? उसमें मन की उपस्थिति से, सांसारिक प्रवृत्ति के विधायक अवसरों/साधनों को नकारा नहीं जा सकता। अतः उनकी 'सांसारिकता' और 'मोक्ष'/'मुक्ति' में कोई खास फर्क नहीं जान पड़ता।

(६) मीमांसादर्शन की आत्म-विवेचना को देखकर यह कहा जा सकता है कि एक तो उनका आत्मा 'जड़' है; दूसरे, वे स्वर्ग से भिन्न, किसी ऐसे 'मोक्ष' को नहीं मानते, जिसे प्राप्त कर लेने पर, जीवात्मा को पुनः संसार में न आना पड़े।

(७) सांख्यदर्शन भी मोक्ष में 'सत्त्व' गुणरूपा 'बुद्धि' की सत्ता मानता है। जिससे उसका 'पुरुष' समग्रतः 'ज्ञ' के स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता। बल्कि, वह वहाँ प्रकृति से पराङ्मुख रहकर भी, एक तरह से उससे संश्लिष्ट ही रहता है।

(८) अद्वैतवेदान्त में सब कुछ ब्रह्मरूप माना गया है। फिर माया से, और जगत् के असत् रूप से संश्लिष्ट रहने पर भी 'आत्मा' की कोई हानि नहीं मानी जानी चाहिए। किन्तु, यह वास्तविकता नहीं जान पड़ती कि सारा का सारा जगत् ब्रह्मरूप ही है। यदि सारा विश्व ब्रह्मरूप ही होता, तो ब्रह्मरूप जगत्/माया का अभाव कैसे हो सकता है ? यदि उसका अभाव मान लिया जाये, तो ब्रह्म के भी अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

(९) जैनदर्शन ने जीव-अजीव की तर्क-संगत भेद-कल्पना की है। चेतन में अचेतन के सम्मिलन की न्यूनाधिकता के अनुसार, उसने आत्मा के गुणात्मक विकास के सोपानों की विवेचना की है। वह मानता है, कि जिस 'जीव' में जितनी मात्रा में 'अचेतन' का अधिक अंश होगा, वह आत्मिक गुणों के विकास क्रम में, उतना ही पीछे रहेगा। और जिस 'जीव' में 'अचेतन' का अंश जितनी मात्रा में न्यूनतम/कम होता चला जायेगा, वह आत्मिक गुणों की विकास-प्रक्रिया में, उतना ही आगे/ऊपर पहुँचता जायेगा। अचेतन के अधिक अंश वाले जीव को 'मोक्ष' प्राप्त कर पाना, अधिक मुश्किल होता है। किन्तु, न्यून/कम अंश वाला 'जीवात्मा' शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

दरअसल, जैनदर्शन, 'जीव' को चेतन-अचेतन की मिश्रित अवस्था मानता है। जिस दिन/क्षण, उसमें से अचेतन का सर्वांशतः निर्गम/पृथक्त्व हो जाता है, उसी दिन/क्षण, वह जीव, संसार से 'मुक्त' हो जाता है। और मुक्त आत्मा में फिर दुबारा अचेतन का प्रवेश नहीं हो पाता; जैनदार्शनिक मान्यता का यह महत्त्वपूर्ण/उज्ज्वल पक्ष है।

भारतीय दार्शनिक साहित्य का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि प्रायः सभी दार्शनिक, 'आत्मा' और 'मोक्ष' के स्वरूप की विवेचना, अलग-अलग तरह से करते आये हैं। जरूरत इस बात की है, इनके पारस्परिक विरोध/मतवैभिन्न्य पर आग्रह-बुद्धि न रखकर, उसमें सापेक्ष/समन्वित दृष्टि से प्रवेश किया जाये, तो हर आत्मचिन्तक/शोधार्थी के लिये, यह श्रेयस्कर विधि सिद्ध हो सकेगी। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org